जनतंत्र के मुश्किल में साहित्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

> **लोकतंत्र - मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है। इस स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वतंत्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बचे रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तांतरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे, जिंदा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं -- साहित्येतर हथियारों से! सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ -- किसी में ढाल सहित किसी में निष्कवच होकर -- मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ -- अपने भाषा के, शिल्प के और और उस दोतरफा जिम्मेवारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।[1]**
>
> -रघुवीर सहाय

विवेक-संपोषित स्वाधीन-चेतना, बहुस्तरीय-सामाजिक एवं आर्थिक संरचना, प्राकृतिक-न्याय से अनुमोदित क्रियाकलाप, संवेदना को विस्तार देनेवाली सूचना के अधिकार, सभी स्तरों पर अबाधित ज्ञान प्रवाह के वातावरण तथा अक्षत[2] पर्यावरण में मानव विकास को हासिल करने, नर्म-मुलायम सपनों और क्रूर-कठिन यथार्थ के बीच अबाधित आवाजाही और संवाद को जारी रखने, आकांक्षाओं के अनंत आकाश में उड़ान भरने में सक्षम उपलब्धियों के छोटे-छोटे डैनों के बचे रहने की सम्मुचित संभावनाओं एवं समुचित हक को सुनिश्चित करने के लिए सतत सक्रिय व्यवस्था का नाम जनतंत्र है। राजनीतिक या शासन की एक पद्धति के रूप में ही नहीं जीवन समग्र की अंतर्वृत्तियों के स्वाभाविक संदर्भ में 'पिरामिडीय' समाज और जीवन व्यवस्था को बदलते हुए उसके 'क्षैतिजीय' विस्तार देने की बुनियादी ताकत का

नाम जनतंत्र है। उत्तर-आधुनिक समय में उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) में भी इस 'पिरामिडीय' समाज और जीवन व्यवस्था को बदलने की मायावी आकांक्षा है। उसकी इस आकांक्षा की दिशा 'क्षैतिजीय' विस्तार की न होकर 'लंबवत' विकास की होती है। कहना न होगा कि 'पिरामिडीय' संरचना में 'कई' के ऊपर 'कुछ' की पद्धति से शिखर पर कुछ या कुछेक के लिए जगह होती है। 'लंबवत' व्यवस्था में 'कई' के ऊपर 'कुछ' की नहीं 'एक' के ऊपर 'एक' और शिखर पर किसी 'एक' के लिए ही जगह होती है। जबकि 'क्षैतिजीय' विस्तार और विकास में 'कई' के ऊपर 'कुछ' की या 'एक' के ऊपर 'एक' की नहीं बल्कि 'सब' के साथ 'एक' और 'एक' के साथ 'सब' की आकांक्षा अंतर्निहित होती है जिसमें 'आधार' और 'शिखर' के बीच अपार अंतर नहीं होता है। जनतंत्र के इस रूप को हासिल करने पर सोचनेवालों के लिए आज का समय चुनौतियों भरा है। क्योंकि आज उनिभू का दवाब विवेक के सूरज को वित्तीय पूँजी के पक्ष में झुकाकर उसकी आकांक्षा की परछाई को मायावी लंबाई देता है। इस सर्वभक्षी छाया की माया से सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामजिक स्तर पर संघर्ष का अभ्यास जिन्हें न हो उन्हें, कोई आश्चर्य नहीं कि 'परछाई' से 'सूरज' हारता हुआ लगने लगे! एक बात और है। बात यह कि मनुष्य और उसके सामग्रिक हितों के विभिन्न आयामों को केंद्र में रखकर 'क्षैतिजीय' विकास का पाठ तैयार करनेवालों को समय की चुनौतियों के साथ ही समय की चपलताओं से भी जूझना पड़ता है। सभ्यता विकास की स्वाभाविक गति एवं दिशाओं को विपथित करनेवाले उनिभू के तत्त्व की दृश्य-अदृश्य चुनौतियाँ और चपलताएँ मिलकर अपने विरुद्ध संघर्षशील चेतना को बहुत भरमाती हैं। कहा जा सकता है कि सच्चे अर्थ में मानवाधिकारों की रक्षा करते हुए विश्वमानवतावाद को हासिल करने के सपने में पलीता लगाने का काम उनिभू का त्रैत करता है। स्वाभाविक ही है कि इस त्रैत से लड़नेवालों के विभिन्न समूहों में शामिल लोगों की चिंताएँ यहाँ व्यक्त हैं। क्या यह लड़ाई बिल्कुल बेमानी है! आश्चर्य नहीं कि कुछ समझदार और ज्ञानी लोग तर्कहीन हो जाने के बाद भी अकाट्य मुद्रा अख्तियार करते हुए कहते हैं कि इस त्रैत से लड़कर हम पूरी दुनिया से अलग-थलग हो जायेंगे, हासिल कुछ नहीं होगा। थोड़ा ठहरकर लंबी साँस लेते हैं और फैसला सुनाते हैं कि लड़ना बेकार है गोकि लड़ना हम भी चाहते हैं। ऐसे लोग सभ्यता के इतिहास में पहली बार प्रकट नहीं हुए हैं। इस मामले में तो हमारे पास अपना जातीय अनुभव और अनुभाव दोनों ही है। स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में इसी तरह कुछ लोग गौरांग महाप्रभुओं से संघर्ष का मूढ़ता ही मानते थे। तर्क यह कि जिसके शासन में सूर्यास्त नहीं होता उससे लड़कर हम कहाँ जाएँगे? उन्हीं के वंशधर भारत उदय की विभिन्न

परियोजनाओं पर हाय-स्टडी कर रहे हैं! इस लेख का मकसद तो बस इतना-सा है कि संघर्षशील लोगों की चिंताओं के विभिन्न सूत्रों को एकत्र एवं सुगुंफित कर उसमें निहित विमर्श व्यापक पाठ को अनुसृजित करने की गंभीर दिशा में बढ़ने का साहस सँजोने में थोड़ा जोगान लग जाये।

कैसा है आज का समय? छात्रों के लिए, युवाओं के लिए, महिलाओं के लिए, कामगारों, मजदूरों, किसानों और आम लोगों के लिए? गंभीर छात्र दिन-रात एक कर अपनी ऊर्जा का महत्त्वपूर्ण अंश विभिन्न परीक्षाओं में सपनीली सफलता पाने के लिए लगा देते हैं और एक दिन हताशा की गहरी खाई में गिरते हैं जब उनहें पता चलता है कि उनके सपनों में सेंध लग चुकी है, प्रश्नपत्र तो बाजार में बिक रहे हैं। छात्रों के सामने एक ऐसी वयवस्था है जो बताती है कि यदि लाखों रुपये की कैपिटेशन फी देने की क्षमता आपके माता-पिता या परिवार में नहीं है तो आप अपनी मेधा के सही इस्तेमाल के लिए किसी अचार कंपनी से संपर्क करने के लिए स्वतंत्र हैं। हाँ-हाँ, एडुकेशन लोन उपलब्ध है! अब उसकी शर्तें किसी को बहुत कठिन लगे तो क्या किया जा सकता है! कहने की जरूरत है कि छात्रों के लिए कैसा समय है! छात्रों के लिए समय बुरा है तो उन्हें भी लड़ना चाहिए! और इसीलिए वे लड़ भी रहे हैं! इसी तरह समाज के अन्य समूहों के लिए भी समय बहुत अच्छा नहीं है। गाँव-देहात और जंगली इलाकों में नहीं राजधानी के नकबेसर की चमक के ठीक नीचे महिलाएँ सरे आम प्रताड़ित होती हैं। कन्या भ्रूण-हत्या और दहेज-हत्या जैसी पारिवारिक घटनाएँ तो हैं ही। किसान और मजदूर आत्महत्या करते हैं। हड़ताल जैसे बुनियादी श्रम-अधिकार छीने जा रहे हैं। कैसी विडंबना है कि हड़ताल करते-करते आजादी हासिल की जाती है और आजादी हासिल होने के बाद बताया जाता है कि हड़ताल का अधिकार ही नहीं है। नौजबान रोजगारहीन हैं। अधवयसों के रोजगार छीन रहे हैं। आज के समय में उत्पादन से पूँजी के बहुआयमी संबंधों को अधिकाधिक चाक्षुष और प्रामाणिक बनाया जा रहा है; उत्पादन से मनुष्य के कौशल और छाप को अमूर्त्त, अदृश्य और काल्पनिक बनाकर श्रम के नैसर्गिक आनंद की अनुभूति से मनुष्य को बंचित किये जाने का पूरा इंतजाम है। श्रम के आनंद से वंचित मनुष्य को सामाजिक विच्छिन्नता में पड़ने में देर ही कितनी लगती है! 'स्वर्णिम चतुर्भुजों' की मायावी घेरेबंदी में 'सत्येंद्रों' की बलि लेकर भय, भूख और भ्रष्टाचार के इस आकाश में किसके भारत का उदय हो रहा है! यह सब देख-सुनकर किसको अच्छा महसूस हो रहा है भाई! ये सब हमारे समय में घट रहा है। यह है घटना प्रवाह का समकालीन चेहरा। घटना-प्रवाह की क्रमिकता को समय कहा जाता है। समय को समझना घटना-प्रवाह की क्रमिकता को समझना है। आज घटना-प्रवाह में उथल-

पुथल और क्रमिकता में अछोर उलझाव हैं। ज्ञान को सूचना से और विज्ञान को तकनीक से विस्थापित करने की दिशा में बढ़ती आज की व्यवस्था का मानवीय चेहरा बहुत ही तेजी से विकृत होता जा रहा है। कहने की जरूरत नहीं है कि यह विकृति आज अग्रगामी और प्रकृतत:-प्रगतिशील मानव जाति के समुन्नत अंश की चेतना तक फैलती हुई दीख रही है। इस विकृति का सर्वाधिक प्रभाव तेजी से छीजते हुए मध्यवर्ग के जीवन-चरित-मानस पर देखा जा सकता है। अमीरी और गरीबी के बीच की खाई बहुत तेजी से चौड़ी ओर गहरी होती जा रही है। इस खाई में सामाजिक मूल्य समाते जा रहे हैं। समाज में संवेदना का ब्लैकहोल बन रहा है। ऐसे में आज के समय को समझना कठिन और चुनौतीपूर्ण है। उनके लिए यह काम और भी कठिन है जिन्हें समय को समझने के विवेक के साथ समय को बदलने के संकल्प का भी विनियोग करना है।

गरीबी अपने आप में बहुत बड़ी चुनौती है। गरीबी सामाजिक बीमारियों की सबसे पुरानी जड़ है। कहना न होगा कि आज के समय को समझने के लिए गरीबी पर बात करना बेहद जरूरी है। गरीबी को पहचानने के कई आधार हैं। इन आधारों के कारण गरीबी कई प्रकार से चिह्नित की जाती है। पूरी मनुष्य जाति को शर्मसार करनेवाली गरीबी को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित प्रो. अमर्त्य कुमार सेन Absolute Poverty कहते हैं। Absolute poverty को हम निरपेक्ष गरीबी या परम गरीबी कह सकते हैं। यह गरीबी का वह प्रकार है जिसमें मनुष्य का मनुष्य बने रहना ही असंभव होता है। आर्थिक गतिविधि में सचेतन रूप से जो शामिल नहीं हैं वे गरीबी और अमीरी से परे होते हैं। कहने और सुनने में चाहे जितना बुरा लगे हकीकत यही है कि परम गरीबी का जीवन अमानव या अर्द्ध-मानव के जीवन जैसा ही होता है! ऐसी क्रूर परम गरीबी एक ही सामाजिकता या कई बार सामाजिक अस्मिता की एक ही परिधि के अंदर मनुष्य के एक समुदाय और समूह का मनुष्य के दूसरे समुदाय और समूह के द्वारा शताब्दियों से की जानेवाली अंतहीन शोषण-प्रक्रिया का ही परिणाम होती है। इसे बहुत ही आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि किसी का अमीर या गरीब होना उसकी व्यक्तिगत योग्यता और उद्यमशीलता पर उतना निर्भर नहीं करता है जितना कि उसकी सामाजिक योग्यता और उद्यमशीलता पर निर्भर करता है। क्योंकि अमीरी और गरीबी की परिस्थिति आर्थिक गतिविधियों में मुनाफेदारी की आंतरिक प्रवणता और अधिशेष के अवितरण से उत्पन्न अतिसंचयन से ही होती है और आर्थिक गतिविधियाँ अनिवार्यत: सामाजिक ही होती हैं; यह अलग बात है कि आर्थिक गतिविधियों की सामाजिकता ऊपर से उत्पादकता की सामूहिकता की तरह प्रतीत होती है। मुनाफेदारी की तीव्र आंतरिक प्रवणता के कारण जमा होते हुए अधिशेष को तोड़ने या सामाजिक परिक्षेत्र में आर्थिक संतुलन सुनिश्चित करने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था एक ओर कर-संरचना का निर्माण करती है तो दूसरी ओर काले-धन की एक समांतर अर्थव्यवस्था के जारी रहने देने

या पुष्ट और प्रभावी बनने देने में भी चुपके-चुपके योगदान करती रहती है। आज की दुनिया में परम गरीबी और परम अमीरी का गहरा संबंध काले-धन की इस समांतर अर्थव्यवस्था से भी है। भारत में काले धन का आकार पिछले दिनों अचरज में डाल देनेवाली तेजी से बढ़ा है। उससे भी बड़ा अचरज यह है कि इस काले धन के साम्राज्य को तोड़ने या इसके दुष्प्रभाव से समाज को बचाने के प्रयास कुछ अपवादों को छोड़ दें तो लगभग ठप्प ही हो गये हैं। जो लोग अर्थव्यवस्था के बढ़ते आकार को देखकर खुश हो लेते हैं उन्हें जरा कालेधन के पहाड़ की भी सैर करनी चाहिए। ऐसे में, परम गरीबी के दर्द को राष्ट्र/ राज्य/ समाज या समूह की प्रतिव्यक्ति आय या सकल घरेलू उत्पाद के औसत-संदर्भों से समझना मुश्किल है।

सब्यसाची भट्टाचार्य की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण किताब है, 'आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास'। इसमें उन्होंने जॉन हाब्सन की किताब 'साम्राज्यवाद' की चर्चा की है। इंगलेंड की लेबर पार्टी से जुड़े जॉन हाब्सन की यह किताब 1902 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में बताया गया है कि किस प्रकार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रम-शक्ति के पास अपेक्षित आय नहीं पहुँच पाती है। स्वाभाविक ही है कि श्रमिक वर्ग की क्रय क्षमता कम होती जाती है। राष्ट्रीय आय के असमान वितरण के कारण श्रमिक वर्ग के साथ-साथ विशाल जनसंख्या की भी क्रय क्षमता में गिरावट आती है। इस गिरावट के कारण उपभोक्ता वस्तु की देशी खपत में भारी गिरावट आती है। हाब्सन ने इसे 'अल्प उपभोग' के रूप में चिह्नित किया था। राष्ट्रीय आय के इसी असमान वितरण के कारण पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ता जाता है और पूँजी केंद्रीकृत होती जाती है। हाब्सन इसे 'अतिसंचय' की स्थिति कहते हैं। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत विकसित होनेवाली 'अल्प उपभोग' और 'अतिसंचय' की यह प्रवृत्ति और स्थिति उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के प्रभाव में और अधिक मजबूत एवं सुदृढ़ हो रही है। 'अल्प उपभोग' और 'अतिसंचय' की स्थिति को ठीक से समझना होगा। याद रखना होगा कि पूँजी के स्वार्थ की टकराहट से ही अंतत: आधुनिक राष्ट्रों के बीच युद्ध का जन्म होता है। राष्ट्र राज्यों की राजनीतिक संप्रभुताओं के स्थान पर कॉरपोरेटीय धारकताओं और निर्भरताओं पर भरोसा करने से आधुनिक राष्ट्र राज्यों के बीच आशंकित युद्धों का रूप भले बदल जाये लेकिन इससे उसके प्रभाव की भयावहता के कम होने की कोई संभावना नहीं बनती है। भयावह यह कि ऐसा प्रभाव छोटे-छोटे स्तर पर निरंतर चलनेवाले विश्व-गृह-युद्ध को आमंत्रित करता है। क्योंकि समस्या एक ही सामाजिकता के विखंडित हित समूहों के बीच आपसी टकराहट के रूप में उभरती है। इस टकाराहट को रोकने में न राष्ट्रों की भौगालिक सीमाएँ, न अनुल्लंघ्य संप्रभुता के तर्क से उत्पन्न नैतिकता और न सामाजिकताओं के सांस्कृतिक-आवरणों के बीच विकसित आत्मबद्धता का सुरक्षा-कवच ही

काम आता है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण विकास का बहुत बड़ा नेपथ्य तैयार करता है। विकास का यह नेपथ्य परम गरीबी का क्षेत्र है। आज के समय में बहुत तेजी से परम गरीबी का क्षेत्रफल बढ़ता जा रहा है। इसका सीधा और साफ-साफ मतलब यह समझना चाहिए कि आज का समय बहुत बड़ी मानवीय आबादी को अमानव या अर्द्ध-मानव बनाये जाने की क्रूर प्रक्रिया के जारी रहने का समय है! आज के समय में विकास का जो नाटक चल रहा है उसके नेपथ्य के हाहाकार को मन से सुनकर इसका अर्थ ठीक से न समझा गया तो सभ्यता की नाभिकीय संरचना में होनेवाले विस्फोट को नहीं रोका जा सकेगा। दर्द के दरिया से गुजरते आज के समय के हाहाकार को सुन पा रहे हैं हमलोग! उत्तर आसान नहीं है! आत्म-चिंतन के साथ ही आत्मालोचन भी करना होगा। हमारे के समय के महाप्रभु आत्म-मंथन के लिए समूह में प्रस्तुत होते तो हैं लेकिन गहरे आत्म-चिंतन और निश्छल आत्मालोचन के अभाव में कुछ भी कारगर हाथ नहीं आता है! कुछ हाथ आये भी कैसे! आत्म-हीनता के दल-दल में फँसे लोगों का क्या तो आत्म-चिंतन और क्या तो आत्मालोचन, आत्म-मंथन! सबसे पहले जरूरी है आत्माभिज्ञान और आत्मान्वेषण; पहचानना जरूरी है 'हमलोग' के उस 'आत्म' को जिसने भारत के संविधान को आत्मार्पित किया था। कठिन सवाल यह कि क्या 'हमलोग' के उस 'आत्म' को पहचान पा रहे हैं हमारे महाप्रभु! बहुत संघर्ष के बाद मनुष्य ने आज तक की जय यात्रा की है। वह इतनी आसानी से हार नहीं मानेगा। यह सच है। लेकिन, यदि हम इस करुण हाहाकार को ठीक-ठीक सुन पा रहे हैं तो गाहे-बगाहे हम समय की सवारी कर रहे लोगों के जयकार से विमाहित क्यों हो जाते हैं! इस हाहाकार को श्रव्य बनाना और जयकार के सम्मोहन को तोड़ना आज के संस्कृतिकर्मी के सामने मुँह बाये खड़ी कई बड़ी चुनौतियों में से एक है।

'विकास' और 'वृद्धि' एक दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं। इतना ही नहीं आज तो वृद्धि का विकास-विरोधी रूप भी हमारे सामने आ रहा है। 'आर्थिक विकास' और 'आर्थिक वृद्धि' के अंतर को गहराई से समझना होगा। मनुष्य की उपेक्षा कर होनेवाली आर्थिक-वृद्धि समय को मानव-विकास के अगले चरणों की ओर ले जाने के बदले उलटे पाँव की यात्रा में फाँस लेती है। कैसी विडंबना है कि 'आर्थिक वृद्धि' 'मानव विकास' की विरोधी के रूप में सामने आ रही है! 'रोजगारहीन आर्थिक वृद्धि' तो अनिवार्य रूप से 'मानव विकास' की विरोधी होती है। नई आर्थिक नीति 1991 में लागू हुई। इसके पाँच वर्षों के परिणामों का आकलन करते हुए 1996 में 'मानव विकास रिपोर्ट' ने 'वृद्धि को मानव विकास के साधन' के नजरिये से

परखने का प्रयास किया था। इसके निष्कर्ष कहते हैं कि 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है – आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[3] तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही जिस अर्थव्यवस्था में रोजगार के अवसर नही होंगे वह अर्थव्यवस्था मानवीय कैसे हो सकती है? रोजगार के अभाव से आधिकारिकता या क्रय शक्ति का भी अभाव हो जाता है। आधिकारिकता या क्रय शक्ति का अभाव ही अकाल है। प्रो. अमर्त्य सेन लक्षित करते हुए कहते हैं, 'कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी प्रभावित होते हैं। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। ... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[4] अभी कुछ दिन पहले अन्न का भांडार हमारी भंडारण क्षमता से बाहर पहुँच गया था। हमारे गोदामों में अन्न रखने की माकूल जगह नहीं थी। दूसरी तरफ उसी समय देश में कुछ जगहों में, खासकर उड़ीसा में, भूख से होनेवाली मौतों की खबरें भी आ रही थी। इस पर शासकीय वक्तव्य क्या था? मौत का कारण भूख नहीं कुपोषोण है! कुपोषण क्यों हुआ? व्यवस्था इस पचड़े में नहीं पड़ती। उसके लिए इतना ही काफी है कि कुपोषण बीमारी है। यह तो पुरानी प्रवृत्ति है कि 'मरो भूख से, फौरन आ धमेगा थानेदार/ लिखवा लेगा घरवालों से – "वह तो था बीमार"/ अगर भूख की बातों से (तुम) कर न सके इनकार/ फिर तो खाएँगे घरवाले हाकिम की फटकार'[5]। 1954 का यह सच 2004 का भी सच है। न भूख से मरने के कारण नए हैं, न इस कलंक से व्यवस्था के पल्ला झाड़ने की तरकीब नई है! विडंबना यह कि जल, जमीन, जंगल और अपनी परंपराओं से बेदखल होती जा रही आबादी के लिए न तो रोजगार के अवसर बन पा रहे हैं और न आजीविका के परंपरागत साधन ही बच पा रहे हैं।

विख्यात कृषि-वैज्ञानिक और भारत में 'हरित क्रांति' के प्राणपुरुष डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन ने 29 दिसंबर 2000 को केरल कृषि विश्वविद्यालय, त्रिशूर के दीक्षांत समारोह में दिये गये अपने भाषण में 1994 के विश्व व्यापार समझौता को भारतीय कृषि के संदर्भ में 'विषमता बढ़ानेवाला और अन्यायपूर्ण व्यपारिक चरित्रवाला' बताया था। 'गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली/ भूख-पिशाचिन बजा रही है, द्वार-द्वार पर थाली/ दो चाहे हिंसा की देवी को गाली पर गाली/ बलि पशुओं की ले रही है, खप्पर लेकर काली/ गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली'[6] यह 1965 का ही नहीं, पूँजीवादी व्यवस्था का चिरंतन सच है। देश में पर्याप्त मात्रा में अन्न उपलब्ध रहने के बावजूद आबादी के किसी बड़े अंश के लिए भुखमरी की स्थिति हो सकती है। क्रय शक्ति के कमजोर पड़ने के साथ ही क्रय शक्ति की सीमा के अंदर जीवनरक्षी सामग्रियों को उपलब्ध करवाने की राजकीय इच्छा शक्ति में हुई गिरावट को भुखमरी के प्रमुख कारण के रूप में चिह्नित किया जा सकता है। कारण और भी हो सकते हैं। जाहिर है, अकाल को अनाज के साथ ही जीवन उपयोगी अन्य सामग्रियों के उत्पादन और उन सामग्रियों की उपलब्धता से भी जोड़कर देखना चाहिए। तो, आज का समय उपलब्ध को अनुपलब्ध बना देने का ऐसा बहुमुखी समय है जिसके एक सिरे पर विश्व-गृहयुद्ध का सामान है तो दूसरे सिरे पर अकाल की आशकाएँ।

उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) की विभिन्न अनुषंगी परियोजनाओं के अंतर्गत आज का समय स्वाधीनता और समृद्धि को एक दूसरे की विरोधी और व्युत्क्रमानुपाती माननेवाली समझ के विकसित होने का समय है। यह विवेक-संपोषित स्वाधीन-चेतना के विलुप्त होने और गुलामी में आनंद खोजने का समय है। देखा जा सकता है कि विवेक-संपोषित स्वाधीन-चेतना के विलुप्त होने के कारण किस प्रकार अस्मिता का वास्तविक आधार खो जाता है और नकली आधार उभर आता है। 'आत्म' की पहचान का वास्तविक आधार नितांत व्यक्तिगत सीमा में संकुचित हो जाता है। एक ओर 'आत्म' 'पर' की परिधि में चला जाता है तो दूसरी ओर 'पर' 'आत्म' के क्षेत्र में घुसपैठ कर जाता है। इस प्रकार, 'आत्म' और 'पर' में अंतर करनेवाले विवेक का आधार मिटता जाता है। इस प्रक्रिया में ऐसा वातावरण बनता है जिसमें, 'आत्म' खो जाता है और 'स्वाधीनता' और 'पराधीनता' पर्याय हो जाते हैं। अस्मिता-बोध में आत्मनिर्णय के अधिकार की इच्छा जनतांत्रिक ही होती है। लेकिन, 'आत्म के अभिज्ञान' के विवेक को विसर्जित कर नकली आधार पर खड़ी होनेवाली अस्मिता में अंतर्निहित आत्मनिर्णय के अधिकार की जनतांत्रिक-सी दीखनेवाली माँग अंतत: जनतंत्र को विघटनकारियों के हाथ का

खिलौना बना देती है। नव-उपनिवेशवादियों के लिए अस्मिता-राजनीति की इस भूमंडलीय प्रवृत्ति को आंतरिक विघटन की किसी भी हद तक ले जाना आसान हो जाता है। आज का समय जनतंत्र के ढाँचे में जनतंत्र-विरोधी अंतर्वस्तु के रासायनिक पाक के तैयार होने का समय है। चुनौती यह कि जनतंत्र को अपने ही ढाँचे में विकसित होनेवाली जनतंत्र-विरोधी अंतर्वस्तु के विषैले प्रभाव से कैसे बचाया जाये!

कहना न होगा कि 19वीं और 20वीं सदी दुनिया में जनतांत्रिक चेतना के उभार के साथ मानवीय सभ्यता के आत्मसंघटन की गवाह बनी। 21वीं सदी जनतंत्र के छल के द्वारा जनतंत्र को आत्मविघटन के अवघट तक ले जाने की गवाह बनती प्रतीत हो रही है। 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान के आधार पर दुनिया इतनी आजाद पहले कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण!'[7] नई आर्थिक नीति और उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण की सक्रियता के दस वर्ष के प्रभाव को समझते हुए मानव विकास रिपोर्ट 2002 अन्यायपूर्ण आजादी के लिए जनतंत्र की दुरवस्था को दोषी ठहराती है। इसलिए आज की एक बड़ी चुनौती यह भी है कि बहुस्तरीय-सामाजिक, सामुदायिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जनतंत्र के सहमेल और संगुंफन से विकसित होनेवाले जनकल्याणकारी जनतंत्र की संभावनाओं को जनतंत्र के छल से कैसे बचाया जाये। यह सहमेल और संगुंफन तभी संभव हो सकता है जब आर्थिक-न्याय से अनुमोदित आर्थिक क्रियाकलाप, संवेदना को विस्तार देनेवाली सूचना के अधिकार, सभी स्तरों पर अबाधित ज्ञान प्रवाह, अक्षत पर्यावरण की चेतना के सामाजिक विस्तार के लक्ष्य को हासिल करने के लिए ऐतिहासिक जटिलताओं की समझ के साथ सतत संघर्ष चलाया जाये। इस सतत संघर्ष के लिए जरूरी है कि सच्चे अर्थों में मानवाधिकार की रक्षा करते हुए विश्वमानवतावाद को हासिल करने का सपना देखनेवाले दुनिया के तमाम लोग सचेत और संगठित हों। सचेत और संगठित होकर इस सपना में पलीता लगानेवाले उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) के त्रैत से संघर्ष करनेवाले समूहों में शामिल होकर उसे संगुंफित करने का प्रयास किया जाये। संस्कृतिकर्मी व्यक्ति और संगठन के सामने चुनौती यह है कि इस उद्देश्य को हासिल करने के लिए सामाजिक मन में जागरुक उत्सुकता और प्रभावकारी स्पेस कैसे बनाया जाये। यहाँ एक खतरा भी है और इस खतरा से निकला हुआ डर भी है। दूधनाथ सिंह इस डर का उल्लेख अपने उपन्यास 'आखिरी कलाम' की भूमिका में करते हैं। 'हमें डर इस बात का नहीं है कि लोग कितने बिखर जाएँगे, डर यह है कि लोग नितांत गलत कामों के लिए कितने बर्बर ढंग से संगठित हो जाएँगे। हमारे राजनीतिक

जीवन की एक बहुत-बहुत भीतरी परिधि है, जहाँ 'सर्वानुमति का अवसरवाद' फल-फूल रहा है। वहाँ एक आधुनिक बर्बरता की चक्करदार आहट है।'[8]

आज के जनविरोधी यथार्थ को जनहितैषी बनाने के लिए शिक्षितों की समाज निरपेक्षता के कारणों को समझने और उसे दूर करने, आर्थिक पिछड़ापन और सामंतवादी अवशेष से प्रत्येक स्तर पर लड़ने, सांप्रदायिकता और ब्राह्मणवाद के द्वारा संस्कृति के नाम पर फैलाये जा रहे नवरूढ़िवाद के सभी कारकों की अतार्किकताओं को सामने लाने, दिवालिया राजनीतिक नेतृत्व के दौर में नि:स्वप्न युवा आँखों में अस्मिता के वर्गीय आधार के महत्त्व की चमक पैदा करने, द्वंद्वात्मक-वैज्ञानिकता से संपोषित वास्तविक जनतंत्र के सपनों के मुरझाते जा रहे अंकुर को संवेदना की संजीवनी से सींचने, अस्मिता के वर्गीय आधार के पूरी तरह उभरने और सक्रिय होने तक आर्थिक शोषण और सामाजिक अपमान के अंतहीन दुश्चक्र में फँसे दलित-जीवन और देह एवं दहेज के दो पाटों के बीच फँसे नारी-जीवन के प्रति सामाजिक एवं राजनीतिक बरताव की दृष्टि के विनियोग के औचित्य को खुले मन से स्वीकारने के साथ क्या इसकी शुरुआत नहीं की जा सकती है? जी हाँ, की जा सकती है! यदि बचा रहता है जनतंत्र। जनतंत्र के बचे रहने के लिए जरूरी है कि उसके महत्त्व को सिर्फ सत्ता की दलगत राजनीति से से सीमित करने के बदले सामाजिक परियोजनाओं से भी जनतंत्र की समझ को अधिक गहराई से जोड़ा जाये। सामाजिक परियोजनाओं एवं आंदोलनों को राजनीतिक परियोजनाओं एवं आंदोलनों में असमय ही पर्यवसित हो जाने से बचाना भी एक बड़ी चुनौती है। इसके लिए आधुनिकता और नवजागरण की अधूरी सामाजिक एवं धार्मिक परियोजनाओं के टूटे-बिखरे हुए तंतुओं और सूत्रों को फिर से सहेजना और जोड़ना होगा। कविता और समाज के संकट में तात्त्विक अंतर नहीं होता है। डॉ. शंभुनाथ कविता के संकट को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि 'कविता में जातीय काव्यात्मकता और कवि में जुझारू सामाजिकता की वापसी के बिना 21वीं सदी में कविता शायद ही साँस ले पाए।'[9] यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि जिस समाज की कविता जातीयता चेतना और जुझारू सामाजिकता के बिना साँस नहीं ले सकती है, वह समाज खुद भी इनके बिना साँस नहीं ले सकता है। एक ही प्रक्रिया के परिणामस्वरूप मनुष्य एक ओर वैश्विकता के तनाव में है तो दूसरी ओर स्थानिकता के तीव्र दबाव में भी है! सामाजिक और वैयक्तिक जीवन पर उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) की परियोजनाओं के दुष्प्रभाव की बात सुनकर कुछ लोग हताश हो जाते हैं। वे राष्ट्रों के, और खासकर अपने देश के अलग-थलग पड़ जाने की आशंका व्यक्त करते हैं। उनकी हताशा को समझना जरूरी है और हताशा

के अंधकूप से उन्हें बाहर निकालना एक चुनौती है। पहली बात तो यह कि भूमंडलीकरण के पैकेज में राष्ट्रीय प्रसंग पूरी तरह निरर्थक होते हैं। इसलिए जिन्हें राष्ट्र या देश के अलग-थलग पड़ जाने की चिंता सताती है, उन्हें समझना होगा कि भूमंडलीकरण की सिद्धावस्था में उनका प्यारा राष्ट्र या देश पारंपरिक अर्थ में रहेगा ही नहीं। इसलिए पहली बात तो यह कि जो रहेगा ही नहीं वह अलग-थलग क्या पड़ेगा! खतरनाक यह है कि उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) की परियोजनाएँ दुनिया के विभिन्न राष्ट्रों और उसके नागरिक-समाज के बड़े अंश के बीच अलगाव पैदा करती है। नागरिक-समाज के बड़े अंश से उसका राष्ट्र छिन जाता है। आम आदमी से उसका वतन छिन जाता है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) की परियोजनाएँ दरअसल दुनिया के विभिन्न देशों के अमीर लोगों की संबद्धता और गरीब लोगों की विच्छिन्नता का षड़यंत्र रचती है। दूसरी बात यह कि उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) की परियोजनाओं में दुनिया के आम आदमी के हित के लिए बेहतर स्पेस की जनतांत्रिक माँग को जनतंत्र का विरोध सिद्ध किया जाता है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) और जनतंत्र एक दूसरे के विपरीत ध्रुव होते जाते हैं। इसीलिए यह मान्यता दृढ़ होती है कि उनिभू और जनतंत्र दोनों एक साथ चल नहीं सकते हैं। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण (उनिभू) का विरोध करनेवाले तमाम लोग उसमें मानवीयता के समावेश की ही तो माँग करते हैं! यह अपने-आप में पूरी तरह से सकारात्मक माँग है। इसलिए सकारात्मक, समावेशी जातीय चेतनाओं, जुझारू सामाजिकताओं और वैश्विक संदर्भों के बीच के कठिन संतुलन की पतली-सी जादुई जीवन-रेखा की समझ अर्जित करना और उस्की सामाजिक संवेदनशीलता का माहौल बनाना आज की राजनीतिक ही नहीं सांस्कृतिक चुनौती भी है। जनतंत्र पर आनेवाले हर खतरे को हमें समय रहते पहचान लेना होगा। हमारे देश में भी ऐसी ताकतें, जिन्हें जनतंत्र पर कभी भरोसा नहीं रहा जनतंत्र के ढाँचे में बहुत तेजी से सिर उठा रही हैं। जनतंत्र पर भरोसा होने का स्वाँग वे जनतंत्र के माध्यम से सत्ता पर वर्चस्व पाने के लिए करते हैं। ऐसी ताकतें जनतांत्रिक सत्ता का इस्तेमाल जन के विरुद्ध करते हैं और उनिभू के सबसे बड़े एजेंट के रूप में उभरते हैं। ये एजेंट ही अपने को सबसे बड़ा देशप्रेमी भी बताते हैं। अचरज कुछ भी नहीं। स्वाँग करनेवाले कुछ भी स्वाँग रच सकते हैं। राजनीति से जुड़े लोग तात्कालिक रूप से चाहे जो करें संस्कृतिकर्मियों को तो सावधान रहना ही होगा। जनतंत्र से प्राप्त शक्तियों का प्रयोग कर जनतंत्र को जन के लिए छल में बदलनेवाली ताकतों को पहचानने और परास्त करने का एक भी मौका, जी हाँ एक भी मौका, चूकना बहुत ही खतरनाक हो सकता है। चुनौती यह

मानने और मनवाने की है कि विकल्पहीन नहीं है दुनिया! मनुष्य जाति के पास समाजवाद आज भी सबसे बेहतर विकल्प है!

आज की तारीख में साहित्य, समाज और जनतंत्र अन्योनाश्रित हैं। इन्हें एक दूसरे के अलगाव में नहीं समझा जा सकता है। इस अपमानजनक आशंका की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि हिंदी पट्टी की राजनीति से जनता का और हिंदी साहित्य से पाठक का धीरे-धीरे अनुपस्थित होते जाना एक ही प्रक्रिया के प्रतिफलन हैं। कैसे हो हिंदी समाज में जनता का और हिंदी साहित्य में पाठक का पुनरुज्जीवन! 'लोकतंत्र के अंतिम क्षण' का प्रथम आभास पानेवालों में प्रमुख रघुवीर सहाय कहते हैं, 'पाठक का पुनरूज्जीवन कर सकना आदेश या उपदेश देनेवाले अहं का विसर्जन करके ही संभव है और इसीकी परीक्षा के लिए कवि को बार-बार अपनी रचनाएँ प्रकाशित करनी होती हैं। आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्त्ति करती दिखायी दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि इस संघर्ष में बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको जाँचेगा, सुधारेगा, बनायेगा और फैलायेगा। ये संबंध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जाँच से बनेंगे। जहाँ तक हृदय का सवाल है, कम से कम मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते : इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं। इन्हीं के सामने अपने आंतरिक संघर्ष की जाँच के लिए कवि अपनी रचना लाता है चाहे रचने के एकांत के बीच में से उठकर ही क्यों न आना पड़े।'[10] 'न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श' को तो सिर्फ जनतंत्र की प्रतिष्ठा से ही पाया जा सकता है। इसलिए जिस मुश्किल में हमारा समय है, उसमें सवाल तो बहुतेरे हैं; जवाब लेकिन एक ही है — जनतंत्र ! जनतंत्र के सवाल पर रचने के एकांत से उठने का साहस जुटाना साहित्य के सामने बड़ी चुनौती है।

[1] रघुवीर सहायः आत्महत्या के विरुद्ध 1967

[2] Sustainable के अर्थ में

[3] मानव विकास रिपोर्टः 1996

[4] प्रो. अमर्त्य सेनः आर्थिक विकास और स्वातंत्र्यः अकाल और आपदाएँ

[5] नागार्जुन रचनावली-1 : वह तो था बीमार : हजार-हजार बाँहोंवाली, 1954

[6] नागार्जुन रचनावली-1 : अन्न पच्चीसी - 4 : पुरानी जूतियों का कोरस/ जनशक्ति 28 जनवरी 1965

[7] मानव विकास रिपोर्टः 2002

[8] दूधनाथ सिंहः आखिरी कलाम

[9] डॉ. शंभुनाथः वर्तमान साहित्यः शताब्दी कविता अंक

[10] रघुवीर सहायः लोग भूल गये हैं 1980

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान